

अनासक्त भाव से ही मुक्ति संभव

प्रो. (डॉ.) सोहन राज तातेड़,

पूर्व कुलपति सिंघानिया विश्वविद्यालय, राजस्थान

अनासक्त भाव का अर्थ है— किसी भी वस्तु के प्रति आसक्ति का ना होना। वस्तु परिग्रह नहीं है वस्तु के प्रति आसक्ति का होना परिग्रह है। यह मेरा है, यह तुम्हारा है, यह आसक्ति है। मैं और मेरेपन की भावना आसक्ति का कारण है। यह शरीर नाशवान है, यह संसार नाशवान है। यह चिन्तन अनासक्त भाव है। अनासक्त भाव से मोक्ष की प्राप्ति होती है। कमल का पौधा किचड़ से उत्पन्न होता है किन्तु किचड़ का प्रभाव उस पर नहीं होता। वह किचड़ से निर्लिप्त रहता है। जो मनुष्य संसार में रहते हुए संसार में निर्लिप्त रहता है वह मोक्षगामी होता है। महाराज जनक विदेहराज कहलाते थे। सांसारिक वस्तुओं का उन पर कोई प्रभाव नहीं था। इसीलिए उनको विदेहराज कहा जाता था। इसी प्रकार जो व्यक्ति मोक्ष की इच्छा करता है। उसमें सांसारिक वस्तुओं के प्रति मोह नहीं होना चाहिए। आत्मा और शरीर का पार्थक्य देखना चाहिए। इसीसे अनासक्त भाव जागृत होता है। किसी के प्रति राग-द्वेष न रखना अनासक्त है। कर्तव्य भावना से कार्य करना चाहिए। आजकल व्यक्ति स्वार्थी हो गया है। स्वार्थ के कारण दृष्टि नकारात्मक हो गयी है। इससे समाज और राष्ट्र में बिखराव आ रहा है। मैं और मेरापन अहंकार को जन्म देता है। अहंकार से मनुष्य अपने को नहीं जान सकता। कबीरदासजी ने लिखा है— जब मैं था तब हरि नहीं अब हरि है मैं नाहि। अर्थात् जब अहंकार रहता है तो ईश्वर का दर्शन नहीं होता। जब ईश्वर से साक्षात्कार होता है तो अहंकार नष्ट हो जाता है।

अहंकार से व्यक्ति का मानसतन्त्र बिगड़ गया है। आज का मनुष्य धन प्राप्त करने की होड़ में इतना निमग्न हो गया है कि उसे कुछ दिखायी ही नहीं देता। वह धन को साध्य मान लिया है। जबकि धन साधन है साध्य नहीं। अनासक्त व्यक्ति का कोई शत्रु नहीं होगा। सभी प्राणियों के प्रति उसमें समता भाव रहता है। अनासक्त भाव से सुख की प्राप्ति होती है। मुक्ति को प्राप्त करने का यह उत्तम साधन है। इससे मानसिक शान्ति मिलती है। सुख और दुःख में सम रहना अनासक्ति भाव है। धन के प्रति लालसा का त्याग होना चाहिए। लोगों के मस्तिष्क में परिवर्तन होना चाहिए। शोषण रहित समाज तभी बन सकता है। जब व्यक्ति अनासक्त भाव से जीवनयापन करें। शरीर से भी आसक्ति नहीं होना चाहिए। गीता में भगवान श्रीकृष्ण ने कहा है कि जैसे मनुष्य पुराने वस्त्र को त्यागकर नये वस्त्र को धारण करता है, वैसे आत्मा पुराने शरीर को त्यागकर नये शरीर को धारण करता है। परिवर्तन सृष्टि का नियम है। अनासक्त की भावना एक सुन्दर गुण

है। दार्शनिक दृष्टि से यदि हम चिंतन करें तो बंधन और मुक्ति जीव के लिए है। जिनसे कर्म बंधे या कर्मों का बंधना बन्ध है। मिथ्यादर्शनादि द्वारों से आए हुए कर्म पुद्गलों का आत्मप्रदेशों में एक क्षेत्रावगाह हो जाना बन्ध है। अनेक प्रकार के शरीर और मानस दुःखों से दुःखी होता है। राग-द्वेषादि के निमित्त से जीव के साथ पौद्गलिक कर्मों का बन्ध निरन्तर होता है। जीव के भावों की विचित्रता के अनुसार वे कर्म भी विभिन्न प्रकार की फलदान शक्ति को लेकर आते हैं, इसी से वे विभिन्न स्वभाव या प्रकृति वाले होते हैं।

प्रकृति का अर्थ स्वभाव है। नीम की क्या प्रकृति है? कडुआपन। गुड़ की क्या प्रकृति है? मीठापन। उसी प्रकार ज्ञानावरण कर्म की क्या प्रकृति है? अर्थ का ज्ञान न होना इत्यादि। जीव के प्रदेशों की उथल-पुथल को अस्थिति तथा उथल-पुथल न होने को स्थिति कहते हैं। जिसका जो स्वभाव है, उससे च्युत न होना स्थिति है। जिस प्रकार बकरी, गाय और भैंस आदि के दूध का माधुर्य स्वभाव से च्युत न होना स्थिति है, उसी प्रकार ज्ञानावरण आदि कर्मों का अर्थ का ज्ञान न होने देना आदि स्वभाव से च्युत न होना स्थिति है। विविध प्रकार के पाक अर्थात् फल देने की शक्ति का पड़ना ही अनुभव है। शुभाशुभ कर्म की निर्जरा के समय सुख-दुःख रूप फल देने की शक्ति वाला अनुभाग बन्ध है। कर्म रूप से परिणत पुद्गल स्कन्धों का परमाणुओं की जानकारी करके निश्चय करना प्रदेशबन्ध है। दो के बिना बन्ध नहीं होता। एक हाथ से ताली जिस प्रकार नहीं बज सकती, उसी प्रकार बन्ध तत्त्व भी एक के बीच में नहीं हो सकता। सांसारिक जो विषय-सामग्री है, वह और उसका जो भोक्ता है आत्मा ये दोनों संयोग होते ही बन्ध हो जाते हैं। कर्म पुद्गलों के ग्रहण को बन्ध कहा जाता है। जीव के द्वारा कर्म पुद्गलों का ग्रहण क्षीर-नीर की भांति परस्पर आश्लेष होता है, उसे बन्ध कहा जाता है। वह प्रवाहरूप से अनादि और जो भिन्न-भिन्न कर्म बंधते रहते हैं, उनकी अपेक्षा सादि है। मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और मन, वचन, काय की प्रवृत्ति ये सब कर्मों के आने के द्वार होने से आस्रव हैं। इनसे विपरीत सम्यक्त्व, देशव्रत, महाव्रत, मोह व कषायहीन शुद्धात्म परिणति तथा मन, वचन, काय के व्यापार की निवृत्ति ये सब नवीन कर्मों के निरोध के हेतु होने से संवर हैं। आस्रव का निरोध करना ही संवर है। जिनसे कर्म रुकें, वह कर्मों का रुकना संवर है। नगर के द्वार अच्छी तरह बन्द हों, वह नगर शत्रुओं को अगम्य है। जीव का चरम और परम लक्ष्य है- मोक्ष प्राप्ति। जिसने समस्त कर्मों का क्षय करके अपने साध्य को सिद्ध कर सफलता प्राप्त कर ली वह मोक्ष का अधिकारी है। संग्रह आसक्ति को जन्म देता है। जो व्यक्ति जितना संग्रह करता है वह संग्रह के जाल में उतना ही फंसता जाता है। इसलिए मोक्षकामी पुरुष को बाह्य वस्तुओं में अनासक्त भाव नहीं रखना चाहिए।